

से निकलने का अवसर ही नहीं देने देती। इसप्रकार संसारी गुरु तथा संसारी शिष्य दोनों ही डूब जाते हैं; बिना मोक्ष प्राप्त किये योंही एक दिन मर जाते हैं। वास्तव में, उससमय पश्चाताप करने से क्या लाभ जब रास्ता पूरा तय हो गया हो (उम्र पूरी हो गई हो) क्योंकि उम्र रहते परमात्मा का भजन किया नहीं; उस समय तो सांसारिक-विषयभोगों को भोगने में ही सारी उम्र गाँवाँ दी। जिन्होंने अवसर रहते रामनाम रूपी चम्पू को सँभाला नहीं उनका जहाज निश्चय ही रामनाम-स्मरण रूपी चम्पू के अभाव में संसार रूपी समुद्र में डूबेगा ही डूबेगा।॥७॥ तालाबेली=आतुरता। जब देखो तब संसारी जीव सांसारिक-विषयभोगों को प्राप्त करने की तालाबेली=आतुरता=उधेड़बुन में ही लगा रहता है और सारी दुनिया ही इन दूढ़ों के संपादन में पूर्ण प्रयत्न से लगी हुई है (दोली=चरण और=पूर्ण प्रयत्न) दूढ़=सुखों की प्राप्ति हो तथा दुःखों की प्राप्ति न हो। यदि उक्त स्थिति को मुहावरों की भाषा में कहें तो कहना होगा कि अंधे की लकड़ी अंधे ने पकड़ रखी है। न लकड़ी पकड़ने और न पकड़ने वाले में ही विवेक है। दोनों ही अज्ञानी हैं किन्तु समझते दोनों ही अपने आप को विवेकवान हैं। भेड़ों की ओट में ही भेड़ों को खाया जा रहा है। अर्थात् साधु का बाना पहनकर मनुष्य ही मनुष्य को खा रहा है। यद्यपि भेषधारण करना बुरा नहीं है किन्तु तबतक ही जबतक कि उसको धारण करके परमात्मा की भक्ति की जावे किन्तु संसारी लोग ऐसा=भेष तो धारण कर लेते हैं किन्तु परमात्मा की भक्ति नहीं करते। इनकी स्थिति ठीक वैसी ही है जैसे चूहे की शरण में चूहा बचना चाहे किन्तु ध्यान रहे चूहे की शरण में चूहा कभी भी सुरक्षित नहीं रह सकता क्योंकि शरण्य=शरण देने वाला चूहा स्वयं भी सर्प का खाद्य है। सर्प तो उसे खाने को सदैव तत्पर ही रहता है। मूर्ख संसारी लोग छोटी सी पीड़ा (संसारी सुखों को छोड़ना; इनको छोड़ने से होने वाली पीड़ा) को समाप्त करने के लिये गुरुमहाराज के उपदेशानुसार ज्ञान धारण करने का प्रयत्न करते ही नहीं है। इसीकारण निर्भयपद=परमात्मा की प्राप्ति ऐसे लोगों के लिये सहज ही प्राप्त नहीं है, चाहे ये कितना ही प्रयत्न करें। यहाँ ग्रंथकार का आशय यह है कि संसार के सुखों को छोड़ने पर तो थोड़ा ही दुख होता है किन्तु विषयभोगों को संपादित करने में जो पापों का सृजन होता है, उनको भुगतने में यमराज के यहाँ भारी दुख मिलता है। उनका विचार मूर्ख मानव नहीं करता। वह उन क्षुद्र क्षणिक सुखों को ही भोगने में आसक्त बना रहता है जिससे परमात्मा की प्राप्ति=अक्षयानंद की प्राप्ति उसके लिये दूर की कौड़ी होती है।॥८॥ भेषधारी बातों=उपदेश देने में ही अपना कर्तव्य की इतिश्री मान लेता है। वह बातें करने में ही बह जाता है। क्योंकि बातें करने से ही उसके अंतस में लगी हुई तृष्णा की विशाल भूख शांत होती है। यहाँ उपदेशों में तो कहने के लिये 'अकेला हूँ', कहते हैं किन्तु शरीर के निर्वाहार्थ विशाल सेना (आवश्यकताओं) को पाल रखी है। अपने को उच्च स्थिति का प्रदर्शित करते हुए भुग्न फिरते हैं जबकि उनका आचरण हल्के स्तर का और विचार=ज्ञान आधा-अधुग का।

। तमको देखकर आदर सत्कार में वृद्धि होती है, वही प्रयत्न करते हैं। चाहे ऐसे प्रयत्न करने में मस्तिष्क को किसी भी स्तर तक व्यायाम क्यों न करना पड़े। जैसे खूँ में चढ़ी हुई चादर को पटक-पटक कर साफ किया जाता है जिसमें (जिस प्रक्रिया में) चाहे पहर ही क्यों न फट जाये। वस्तुतः ये भेषधारी भेषधारण करके सोरहा=अच्छा हैं, का प्रदर्शन करते हैं और भरपेट सांसारिक सुखों को भोगने में ही चित्त को लगाये रहते हैं। जैसे-जैसे उम्र बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे ही निकृष्टता बढ़ती जाती है।॥९॥ कंधे पर धाड़ियाँ और काँख में अधारी रखते हैं। याचना करने की बुद्धि अंगीकार करते हैं। संसार में बुरी भावना लेकर घूमते फिरते हैं। इनकी चाल=चालचलन=आचरण अच्छी नहीं होती। ये परमात्मा के साक्षात्कार से हीन होते हैं किन्तु अपने आपको पहुँचवान साधु कहलाने की इच्छा रखते हैं। ये देखा-देखी तथा होडा-होडी में ही लगे रहते हैं। किसने किस प्रकार कितना धन, मान-सम्मान प्राप्त किया, देखते हैं और स्वयं भी वैसी ही प्रक्रिया अपनाकर उनका अनुगमन करते हैं। कौवे जैसी कथा को चरितार्थ करते हैं। रूप से तो लगता है कि कौवा आकाश में उड़ रहा है किन्तु उसकी दृष्टि नीचे की धार करंकादि पर होती है। ऐसे ही इन लोगों का बाह्यरूप तो साधुओं जैसा होता है किन्तु इनकी मनोवृत्ति संसाराभिमुख होती है। वास्तव में ये कलियुग के जीव हैं। भेषधारण करके झूझ ही मारते हैं। व्यर्थ ही समय बर्बाद करते हैं। ऐसे लोगों को अंत में यम के दूत पकड़कर ले जाते हैं तथा नरकों में नाना दुख भोगने को डाल देते हैं। न नरक दुर्गीधयुक्त भयानक दुखों के आगार हैं।॥१०॥१॥

### पन्द्रह तिथि रमैणी ग्रंथ॥<sup>१</sup>

भगवस मनसा मन समझावे। सुफल होइ तौ हरि गुण गावै॥ तन धरिये की इहै बडाई। अपनौ प्रभु जिनि बीसरी जाई।  
 प्रभु न बिसरौ भूलि जिनि, करि सत्सँग लेह सँवारि। मन सेती मनसा कहै, सुंदर सौंज न हारि॥१॥  
 पाँचवा प्रेम प्रीति जो कीजै करुणास्यं सुमरि सुख लीजै।  
 गुरु पारस का करिये संग। तब ही होई निर्मल अंगा। खोलि कपाट दिखावै नैन। बाणी सहित बुलावै नैन।  
 बाणी सहत बुलाइहै, ऐसा गुरु का ज्ञान। अघट बतावै घट महीं, तब मन धरिलै ध्यान॥२॥  
 नौज दिल् मैं लिया अँकुर। कौ निसान अनाहद तूर॥  
 नव सेवगजन सेवा लागै। संकार रटत भ्रम भागै। तब तिस नग्न भया उजियारा। प्राणनाथ का रूप निहारा॥  
 रूप निहारा रुचि भई, सेवग जन सुख बास। अगम निगम आगा लगौ, नाँव भगति बिसवासा॥३॥  
 दस तिहार का किया प्रहारा। तितवेणी संजम आचारा॥  
 दसरी कला चंद्र परकासा। अजपा जाप जपै निज दासा॥ तहाँ निज नाँव नही कछु भंगा। राम दयवान सकल सुख संग॥  
 सकल सुखनि का मूल है, साँई सँ दीवान। कहौ कौन बिधि पाइये, संतौ गुरु बिन ज्ञान॥४॥  
 बंधि चहुँ दिसि चेतनि भारी। चितवत चाहत मिले मुरारी॥  
 नवका रूप कह्या नहिं जाई सब घट व्यापक रहा समाई। येक अनेक अनेक रु येका। अति येकता का समझि बभेका॥  
 समझत ही सुख पाइये, ऐसा परम गियान। येक सबद समि ना तुलै, जोग जग्य तप दान॥५॥

पाँच पंच तन का पेला। प्रगट गुर तहाँ सब भये चेला॥  
 पाँच पचीस पचास सयाना। प्राण पुरिस का बन्धा दिवाना॥ तहाँ बहु वेणि नाद कनिः कीता। महा मंडली रम पुनोता॥  
 प्रेम प्रीति का गुन हैं, देखौ नैन निहारि। माड बिना मौजूद हैं, सतगुर सबद बिचारि॥६॥  
 छठि छत्रपति चंदा छविः छाजै उडगण में आनंद विराजै॥  
 छह दरसन ठाढ़े कर जोगः॥ गोक्यंद रूप नहीं कछु ओगः॥ अकल अतीत अखिलः॥ अविनासी। जाँगा कोइ ब्रह्म प्रकासी॥  
 जाननहार जानसी, जाकै बुधी विचार। विन माधन संसौ गयो, सहजि पहुँता पार॥७॥  
 सातै सप्तद्वीप की सोभा। प्रकटी किरण महा मन लोभा॥  
 तहाँ बहुत जगमौ जैती। बहु हीग अरु मानिक मोता॥ यहु भस्थान अमर कोइ देखे। जीवत जनम सुफल करि लेखे॥  
 जनम सुफल करि लेषसीः, सतगुर सारे काम। मुर नर सब जानै नहीं, सनिन्यः का विश्राना॥८॥  
 आठै आप उदै भया चंदा। अरध उरध पधि परमान्दा॥  
 अरध थै अरध ठहराना। अचल भयो परगुटः पिछाना॥ यहु प्रतिब्यबिः बलबैः जोई ताका आवागवन न होई॥  
 आवागवन न होत है, सुरता म्यंध्य समान। जथाः सोई है रघ्वा, कहै कौन सौः आना॥९॥  
 नौमी नगर निरूपण कोन्हा। निरखि निरखि नैनौ सुख लीन्हा॥  
 धरणि बिना जो अरध अवासा। रणि बिना जो ससी प्रकासा॥ सो ससि सोभत सबही पहो। सब विनसन वो छीजत नहो॥  
 छीजत नहो अछेव है, असा राम अपार। सब करता सब थै रहत, संतौ करौ बिचार॥१०॥  
 दसैं दिसूँ निसि दगस्या सोई। दरसन माँहै परसन होई॥  
 बाहरि भीतरि येकै चंदा। जिनमैः मन मिलि करे अनंदा॥ यहु आनंद सुमर्यः सुरति भाखै जीवत जीव तहाँ लै राखे॥  
 जीव जहाँ लै राखिईः, तहाँ न उपजै आम। बृह समानी समैद मैं, त्यूँ सहजि समाना दास॥११॥  
 जारसि गगन किया पगवेसा। चितवत चंदन गुर उपदेसा॥  
 चरन बन्दः अवलोकन कोन्हा। कर विन पहुँ पथि गुन लोन्हा॥ चंदन चरन कोन्ही पूजा। देव निरजन और न दूजा॥  
 और न दूजा कोइ है, अखिल भुवन का राव। मुनिजन महल न पावही, तहाँ मिलिबेः का चावा॥१२॥  
 बारसि बाणक देखा असा। बारहबानी कंचन जैसा॥  
 कंचन है कहबे के तौई। अबरन बरन धाम नहिं छाँही। सूछिम रूप सकल गुन ग्रामी। सुड का सागर अरु नज नामी॥  
 सबही गुनाँ निधान है, सब बातौ समरथा। जहाँ तहाँ ही देखिलै, कहिये कहा अकथा॥१३॥  
 तेरसि तीनि लोक बिसताराः। तेजवंत अति बार न पाराः॥  
 प्यंड ब्रह्मंडः दिवंतरि देख्या। पारब्रह्म के रूप न रेखा॥ कहिये काहि कहाँ नहिः माँगे गामि बिना गति कोई न जाँगे॥  
 जानैगा जन येक कौ, जो ततवेता होइ। गुरभगता गुन थै रहित, सबद सलूधा सोइ॥१४॥  
 चोहदसिः चंद्र चक्ष्मा असमानः। मानौ उदित भये रवि भानः॥ तहाँ इक पंखी करे बिलासा। अन्न पखि ज्यूँ उडित अकासा॥  
 थिति परवाने थिर मिल्या, अपना मन उनमान। सबद समाना ससि महो, तब बहुरि न आवनजाना॥१५॥  
 पूणवासी प्रगट्या नीका। सोलह कला सकल काः टीका॥  
 चित चकोर अति आरनिकता। स्वातिः स्या रस अमी पीवता। सा रस अमी रामजी कौ नाम। पावत सरे सकल ही काम॥  
 कारिज सरे मकल्ल के, अनैत कोटि भये दाम। अब हरदास न बीसरे, चित थै चरन निवास॥१६॥  
 पाठांतर : १ पनरह तीर्थ रमैणो २ प्रीत्य ३ सुमिरि ४ बुलावहै ५ नसान ६ आगानणै भाव  
 ७ दिवान ८ सौं ९ ग्यान १० समझत ११ जग्य १२ धुनि १३ छिव १४ कोरा १५ अख्यल  
 १६ लेखिया १७ संतनि १८ तौ प्रगट १९ प्रतिब्यंब २० बिलबै २१ जो २२ स्यूँ २३ जनमैं  
 २४ सुमिरि २५ गखई २६ बिंद २७ मिल्यबे २८ बिसतार, पार २९ ब्रह्मंड ३० को ३१  
 चौदसि ३२ असमाना, भाना ३३ को ३४ स्वांत्य  
 अमावस का तात्पर्य है, मन को मनसा द्वारा समझाना। संकल्प-विकल्प करने वाले

अंतःकरण का नाम मन है। इस मन की अनेक वृत्तियाँ होती हैं जिनके सहकार से ही मन अपना व्यापार संचालित करता है। मन का स्वभाव किसी भी तथ्य के बारे में नानाप्रकार के विचार करना भर है। उन विचारों में से कौनसा सही है, इसका निर्णय करना इसकी सीमाक्षेत्र में नहीं आता। वस्तुतः यह कार्य बुद्धि का है कि कौनसा तथ्य सही तथा कौनसा सही नहीं है। यहाँ ग्रंथकार ने निश्चयात्मक बुद्धि को ही मनसा कहा है। संतसाहित्य में 'मनसा' शब्द का प्रभूत मात्रा में प्रयोग हुआ है। कभी-कभी इसका मन की वृत्ति के लिये भी प्रयोग हुआ मिलता है। मनसा = बुद्धि मन को समझाती है, तू इधर-उधर भटकना छोड़ दे। इसीमें तेरी भलाई है। ग्रंथकार संभावना व्यक्त करते हुए कहते हैं, मनसा द्वारा मन को समझाने पर यदि मन समझ जाता है, मनसा का प्रयत्न सफल हो जाता है तो मन संसार से विमुख होकर हरि के गुणों को गाने में लग जाता है। मनुष्य जन्म मिलने का साफल्य इसीमें है कि वह अपने प्रभु = स्वात्मतत्त्व-चिंतन का विस्मरण कभी भी न कर पावे। परामर्श देते हुए ग्रंथकार कहते हैं, भूलकर भी प्रभु = परमात्मतत्त्व का विस्मरण मत करो। सत्संगति करके उसको प्राप्त करने = जानने का सतत् प्रयत्न करो। मन से मनसा कहती है, मनुष्य जैसे सुंदर शरीर को व्यर्थ ही मत खो। सौंज = सामग्री = शरीर॥१॥ प्रतिपदा का तात्पर्य है, करुणासिंधु-परमात्मा का स्मरण प्रेम-प्रीति युक्त करना चाहिये और अक्षयानंद की प्राप्ति करनी चाहिये। पारस रूपी गुरु का अहर्निश संग करना चाहिये। तब ही बुद्धि निर्मल तथा शरीर पवित्र होता है। उनके समक्ष सर्वतोभावेन समर्पण कर देना चाहिये। तब वे हृदय के नेत्रों को खोलकर परमात्मा का दर्शन करा देते हैं। परमात्मा का दर्शन होते ही अनुभवयुक्त वाणी का उद्गम स्वतः ही होने लगता है। गुरुमहाराज का ज्ञान ही ऐसा है कि वह परमात्मा का अनुभव तो कराता ही है, उसका वर्णन वाणी से भी कराता है। वह ज्ञान अघट = अशरीरी = निर्गुण-निराकार-परमात्मा का साक्षात्कार इस शरीर में ही करा देता है। अतः हे मन! उस परमात्मा का ध्यान कर ले॥२॥ द्वितीया का तात्पर्य है, हृदय में भक्ति के बीजों का उग जाना जिसके परिणामस्वरूप अनहदनाद के बाजे बजते हैं। तूरा = मुँह से बजाने वाला एक बाजा = रणसिंगा जो प्रायः वर्तमान में संत-महंतों के आगे बजाया जाता है। अनहदनाद सुनने का तात्पर्य है, स्वात्मतत्त्व की अपरोक्षानुभूति। जब साधक को स्वात्मतत्त्व का बांध हो जाता है तब स्वतः ही उस अनुभव का लाभ उठाने वाले अनेकों शिष्य-सेवकों की सेवाएँ प्राप्त होने लग जाती हैं अथवा तब साधक परमात्मा की सेवा में लग जाता है। उसके रं रं रटने से भ्रम (तत् में अतत् दर्शन; क्षणभंगुर संसार को शाश्वत जानना, आत्मा अनात्मा में भेद न जानना, आत्मा और ब्रह्म में भेद जानना, भ्रम है) भाग जाता है। जब भ्रम का नाश हो जाता है तब उस शरीर में आत्मा का अलौकिक प्रकाश विकीर्ण हो जाता है और प्राणनाथ = परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है। परमात्मतत्त्व का बांध हो जाने पर उसके प्रति रुचि = आसक्ति पैदा हो जाती है।

परिणामरूप साधक सुखासंधु में समा जाता है। इससमय अगम = शास्त्र और निगम वेद साधक के सामने बौने हो जाते हैं। उसका चित्त भगवन्नाम रूपी भक्ति का श्रद्धा तथा विश्वास के साथ आलिङ्गन कर लेता है।३॥ तीज का तात्पर्य है, अज्ञानांधकार का समूल नाश। त्रिवेणी तट (दोनों आँखों के मध्य का भाग) पर संयम (धारणा, ध्यान तथा समाधि का नाम ही योगशास्त्रानुसार संयम है) तथा आचार = स्नानादि का संपादन होता है जिसप्रकार बढ़ते हुए चंद्रमा से बढ़ता हुआ प्रकाश मिलता है ऐसे ही यहाँ जैसे-जैसे साधना परिपक्व होती है, वैसे-वैसे आत्मप्रकाश का तेज अधिक से अधिक स्फुट होने लगता है। यहाँ पर साधक बिना जपे ही जाप जपता है। संतों ने अजपजाप उस स्थिति को कहा है जब शब्द और सुरति = वृत्ति का तादात्म्य हो जाता है और सुरति से शब्द अलग नहीं होता है। सुरति स्वतः ही बिना जिह्वा के हिले शब्द का = भगवन्नाम का जप करती है। यहाँ पर निजनाम = परमात्मनाम का अखंड जप होता है। उसका खंडन = लय का टूटना होता नहीं है। रामजी का दिवान = साधक इस समय समस्त सुखों का उपभोक्ता हो जाता है; उसके समक्ष समस्त सुख = आनंद मूर्तिमान हुए खड़े रहते हैं। परमात्मा से प्रेम करना समस्त सुखों का मूल है। हे संतों! बताइये; गुरु के बिना ज्ञान अन्य किसविधि से प्राप्त किया जा सकता है। अर्थात् बिना गुरु के ज्ञान का प्राप्त होना असंभव है।४॥ चौथ = चतुर्थी का तात्पर्य है, गफलत का अभाव और चारों ओर से चौकस होना, सावधान होना एवम् मुरारी = परब्रह्म-परमात्मा से मिलने की उत्कट चाहत = इच्छा। उस परमात्मा के रूप का वर्णन नहीं किया जा सकता है क्योंकि वह तो रूपातीत है और सब शरीरों में समान रूप से परिव्याप्त है। वह परमात्मा तत्त्वतः एक है किन्तु सचराचर में परिव्याप्त होने से अनेक सा मालूम होता है किन्तु याद रखें, उन सभी में वह एक ही तो व्याप्त है। अतः तत्त्वतः वह एक ही है। इस एकत्व का मर्म विवेकी होकर समझना चाहिये। इस तत्त्व को समझते ही सुख प्राप्त हो जाता है, यह ज्ञान ही (एकत्व का) ऐसे प्रभाव का है। इस एक शब्द के समान न योग, न यज्ञ और न तप तथा दान ही हैं।५॥ पंचमी का तात्पर्य पाँच तत्त्वों का मिलन है (शरीर पाँच तत्त्वों की निर्मित है) जिसमें परमगुरु = परमात्मा का प्राकट्य होता है। परमात्मा का प्राकट्य होते ही अन्य चले तथा स्वयं गुरु हो जाता है। पाँच, पच्चीस, पचास की संख्या में बुद्धिमान साधक उस प्राणपुरुष परमात्मा के प्रेमी बन जाते हैं। यहाँ अनेकों वेणु नादध्वनि करती हैं। यह महामंडल परमपुनीत दिव्य है। परमात्मा प्रेम का पुञ्ज है। इसे दोनों नेत्रों से अच्छी प्रकार देखो। यह परमात्मा बिना शरीर के ही मौजूद है। यदि आपको मेरी बात पर विश्वास नहीं है तो सद्गुरु महाराज के शब्दों को विचार कर देख लो।६॥ छठ = षष्टि का तात्पर्य है, जिसप्रकार तारागणों में चंद्रमा की शोभा दर्शनीय होती है, उसीप्रकार सहस्रसार में छत्रपति = आनंदस्वरूप परब्रह्म-परमात्मा निवास करता है। वहाँ षड्दर्शन (न्याय, वैशेषिक, उत्तरमीमांसा, पूर्वमीमांसा, सांख्य और योग किम्वा

जोगी, जंगम, सेवड़ा, दरवेस, संन्यासी और ब्राह्मण अथवा बौद्ध) हाथ जोड़े खड़े रहते हैं। अर्थात् वहाँ तक इनकी गम = पहुँच नहीं है। गोविन्द = परमात्मा का रूप अकल = कला विभाग रहित, अतीत = सबसे न्यारा, अखिल = अखंडित, अविनासी = विनाश = मृत्यु से रहित के अतिरिक्त और दूसरा नहीं है। ऐसे ब्रह्म को कोई ब्रह्मप्रकाशी = ब्रह्म का ज्ञाता ही जान सकेगा। ऐसे ब्रह्म को कोई जानने वाला ही जान सकेगा जिसमें विवेक और विचार = अनुशीलन = ध्यान करने की कला होगी। परमात्मा ज्ञान साध्य है, क्रिया साध्य नहीं, संभवतः ग्रंथकार यहाँ यही कहना चाहते हैं कि बिना प्रयत्न के ही संशय (उभयकोट्यात्मक = यह वस्तु 'यह है' अथवा 'वह है' ज्ञान का नाम ही संशय है) का नाश हो गया और सहज में ही परब्रह्म-परमात्मा का साक्षात्कार हो गया। कर्म में इच्छा, प्रयत्न तथा साधन का होना आवश्यक है तब कर्म का संपादन होता है। इसके विपरीत ज्ञान में इनमें से किसी की भी आवश्यकता नहीं होती। ज्ञान तो बिना प्रयत्न के ही हो जाता है। जैसे सामने गाय खड़ी हो तो 'गाय है' इस ज्ञान के लिये न इच्छा, न प्रयत्न, न साधन और न समय की आवश्यकता होती है। यह सत्य है, इदमाकार ज्ञान होता अपरोक्ष है किन्तु होता ज्ञान ही है। अस्तु।७॥ सप्तमी का तात्पर्य है, सातों द्वीपों का शरीर में ही विद्यमान होना। सात द्वीपों का तात्पर्य अखिल ब्रह्मांड से है और शरीर में अखिल-ब्रह्मांड-नायक परब्रह्म-परमात्मा का निवास है। जब शरीर में परब्रह्म-परमात्मा का प्रकाश हो जाता है तब मन उसी में लुब्ध हो जाता है। वहाँ पर परमप्रकाश की ज्योति जगमगाती है। वह ज्योति बहुत से हीरे, माणिक्य और मोतियों से उत्पन्न ज्योति से भी अधिक प्रभावशाली होती है। इस स्थान को कोई अमर ही देख सकता है और जीते जी ही जन्म को सफल कर लेता है। संतों ने जीवन्मुक्ति की अवधारणा को माना है। यहाँ ग्रंथकार उसीका प्रतिपादन कर रहे हैं। जीते जी ही परमात्मप्राप्ति हो जाने से 'जन्म सफल हो गया' कहने में आता है क्योंकि सारे कार्य सद्गुरु महाराज की कृपा से सिद्ध हो गये होते हैं। देवता, मनुष्य आदि सभी संतों के विश्रामस्थल का रहस्य जानते नहीं हैं क्योंकि वे तो भोगों में लगे रहते हैं।८॥ अष्टमी का तात्पर्य है, परब्रह्म-परमात्मा रूप चंदा का शरीर में प्रकट हो जाना, अनुभव होने लग जाना। नाभिकाल से सहस्रार तक परमानंद ही परमानंद है। शब्द नाभिकमल से उठकर मेरुदण्ड में होता हुआ सहस्रार में स्थिर होता है। वह अचल हुआ वहाँ प्रकट पहचानने में आता है। जो कोई इस प्रतिबिम्ब को सहस्रार में जाकर प्रत्यक्ष कर लेता है उसका आवागमन का चक्र समाप्त हो जाता है। जब सुरति शब्द रूपी सिंधु में तदाकार हो जाती है तब आवागमन का झगड़ा मिट जाता है। आत्मा ब्रह्म रूप ही थी। माया के पड़ने के कारण जीव अपने आपको आत्मस्वरूप अनुभव नहीं कर पा रहा था। अब अनुभव करते ही आत्मा परमात्मस्वरूप में भासने लगा। जो था, वही दीखने लगा। दोनों एक हो गये। अब कौन से कौन कहे कि तू पृथक् और मैं पृथक् हूँ।९॥ नवमी का तात्पर्य नगर का निरूपण करना है। इस

नगर को देख-देखकर नयनों को आनंद मिलता है। इस नगर में बिना आधार के ही निवास स्थान बना हुआ है। बिना रात्रि के ही चंद्रमा उदय होकर प्रकाशित होता है। यह चंद्रमा सर्वत्र शोभा पाता है। इस चंद्रमा के अतिरिक्त सभी मर जाते हैं। यह स्वयं अमर रहता है। यह घटता नहीं है अपितु सदैव अछेव = असीम बना रहता है। यह चंद्रमा और कोई नहीं स्वयं अपरिमित राम है। हे संत महानुभावां! आप गंभीरतापूर्वक विचार करिये, यह राम समस्त ब्रह्मांड का कर्ता होने से सब में समाया हुआ है किंतु सबसे पृथक् भी है॥१०॥ “मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥४॥” गीता ९/४॥ दशमी का तात्पर्य है, दशों दिशाओं में उस एक परब्रह्म परमात्मा का दर्शन और उस दर्शन में ही उसका स्पर्श होता है। (स्पर्श = मिलन = एकाकार) बाहर और भीतर वह एक ही तत्त्व है। उस एक तत्त्व से मन मिलकर आनंदोपभोग करता है। इसी आनंद का बखान स्मृति और श्रुति करती हैं। अथवा इसी शब्द स्वरूपी परमात्मा को सुरति सुमिरकर = परमात्मा का चिंतन कर आनंदोपभोग करती है। जोते जी ही जीव को उस शब्द स्वरूपी परमात्मा में संलग्न करके रखता है। जीव को उस परमात्मा में संलग्न करके रखना चाहिये ताकि पुनः अन्य कोई आशा = इच्छा का उद्भव न हो। जिस प्रकार बूंद समुद्र में समाकर अपना अस्तित्व खो बैठती है ऐसे ही साधक परमात्मा में एकाकार होकर ब्रह्म रूप ही हो जाता है॥११॥ एकादशी का तात्पर्य है गगन में प्रवेश तथा चित्त के द्वारा गुरुपदेश का अहर्निश चिंतन। वहाँ चित्त चरणार्विदों का अवलोकन करता है और बिना हाथों के पुष्पों की माला गूँथ कर चरणों पर चढाता है। चंदन के द्वारा चरणों की पूजा करता है। वह चरण स्वरूप परमात्मा और कोई नहीं निरंजनदेव ही है। अखिल भवन का राजा और कोई नहीं निरंजनदेव ही है। मुनिजन भी जिसको प्राप्त करने में अपने आपको असमर्थ पाते हैं, उसीको प्राप्त करने की इच्छा है॥१२॥ द्वादशी का तात्पर्य है, बारहबानी = शुद्ध, चमकदार स्वर्ण जैसी निष्कलक आकृति का दर्शन करना। वस्तुतः वह परमात्मा कंचन जैसा कहा गया है किन्तु यह कहने मात्र के लिये ही कहा गया है। वह तो अवर्णनीय वर्ण वाला है जिसमें न धूप = प्रकाश है और घाम = तम है। वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, फिर भी सकल गुणों का धाम है। सुख का सागर है और निजनामी है। वह परमात्मा समस्त गुणों का निधान तथा सभी बातों को करने की सामर्थ्य रखने वाला है। उसे सर्वत्र देखा जा सकता है तथा वह अकथनीय है; उसके बारे में क्या कहा जाए॥१३॥ त्रयोदशी का तात्पर्य, ब्रह्म का तीनों लोकों में विस्तार है। वह अति तेजस्वी है। उसका कोई आर-पार नहीं है अर्थात् वह निस्सीम है। उसे पिंड और ब्रह्मांड में समान रूप से स्थित देखा गया है। वस्तुतः उस परब्रह्म का कोई रूप अथवा आकार नहीं है। उसके बारे में किससे कहा जाए, कोई मेरे कहे को मानने को तैयार नहीं है। क्योंकि बिना गुरु की गम = गुरु के ज्ञान के कोई भी उसकी गति = रहस्य को जानने में समर्थ नहीं है। जो तत्त्ववेत्ता होगा, वही कोई भक्त

उस परमात्मा को जान सकेगा। वह तत्त्ववेत्ता कैसा होगा, गुरु का भक्त होगा, गुणों (त्रिगुणों) से रहित होगा और शब्द को रटने वाला होगा॥१४॥ चौदस का तात्पर्य है - चंद्रमा का आकाश में चढ़ जाना। यहाँ चंद्रमा मन का प्रतीक है। चंद्रमा = मन जैसे ही आकाश में पहुँचता है, शब्द से तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करता है, वैसे ही ऐसा लगता है मानों कि अनंत प्रकाश रूप सूर्य का उदय हो गया है। श्रीस्वामी रामचरणजी महाराज ने अपने शब्दप्रकाश ग्रंथ में बताया है कि मन की वृत्ति और 'राम' में से 'आ' व 'म' त्रिवेणी संगम तक ही शब्द के साथ जाते हैं। तत्पश्चात् मात्र रंकार ही सहस्रार में जाता है। वेदांत का सिद्धान्त भी यही है कि वृत्ति परमात्मा का बोध कराकर विलीन हो जाती है। वह रहती नहीं है। यहाँ ग्रंथकार ने मन को सहस्रार में कैसे जाना लिखा है, समझ से परे है। अस्तु! उस सहस्रार में एक पक्षी विलास करता है। वहाँ पूर्ण अद्वैत है। जिसप्रकार अडलपक्षी बिना आधार के आकाश में घूमता रहता है, ऐसे ही यह परब्रह्म रूपी पक्षी अकेला ही बिना किसी आधार के वहाँ निवास करता है। स्थिर के साथ मिल जाने से स्थिर हो गया। जैसी साधना की, वैसी ही स्थिति प्राप्त कर ली। शब्द, चंद्रमा = निरंजनब्रह्म में समा गया। जब दोनों (एक स्थिर दूसरा अस्थिर) मिलकर एक हो गये तब अब दूसरे का कैसे आवागमन हो सकता है॥१५॥ पूरणमासी का तात्पर्य है, सोलहकलापूर्ण चंद्रमा स्वरूप परब्रह्म-परमात्मा का साक्षात्कार। विरही चकोर रूपी चित्त शांति रूपा सुधारस का पान करने लगा। वह सुधारस रामजी का नाम है जिसके पीने और पिलाने से सारे काम सिद्ध हो जाते हैं। सभी के कार्य सिद्ध होते हैं। इसीलिये इस सुधारस के करोड़ों-करोड़ों सेवक = दास हो गये हैं। इसलिये मैं हरदास अब किसी भी स्थिति में अपने चित्त से इस सुधारस के पान को निकाल नहीं सकता। सुधारस = परब्रह्म परमात्मा और उसका नाम॥१६॥

### हरदासजी का पद ॥ राग गोड़ी ॥१॥

( १ )

अवधू ब्रह्मा कौ घर लाधौ रे ॥

हरि भजि औसर कदे न हारे, नालिकँवल सौ बाधौ रे ॥टेक॥  
चौदह चौक गुफा में बैठा, साध सकल ब्रत धारी।  
रहसि रहसि राधौ गुण बिलसे, नौ निधि आणि उतारी॥  
जटा अकासि सुरसुरी सिर मैं, चरण रैणि निधि कासी।  
सो सिध सेवि रखे मति भूलै, पुरिख सही अविनासी॥